

Chapter तीन

राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव का जन्म

इस अध्याय में आग्नीध्र के ज्येष्ठतम पुत्र राजा नाभि के निर्मल चरित्र का वर्णन किया गया है। पुत्रेच्छा से महाराज नाभि ने कठोर तपस्या की। उन्होंने अपनी पत्नी सहित अनेक यज्ञ किये और यज्ञों के स्वामी भगवान् विष्णु की आराधना की। भक्तों पर दयालु होने के कारण भगवान् महाराज नाभि की तपस्या से परम प्रसन्न हुए। वे साक्षात् चतुर्भुज रूप में राजा के समक्ष प्रकट हुए। यज्ञ करने वाले पुरोहित उन्हें देखकर उनकी स्तुति करने लगे। उन्होंने भगवान् से अपने ही समान पुत्र के लिए प्रार्थना की और भगवान् विष्णु ने राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से राजा ऋषभदेव के अवतार के रूप में जन्म लेना स्वीकार कर लिया।

श्रीशुक उवाच

नाभिरपत्यकामोऽप्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषमवहितात्मायजत. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी बोले; नाभिः—महाराज आग्नीध्र के पुत्र ने; अपत्य-कामः—पुत्रेच्छा से; अप्रजया—जिसे कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई थी; मेरुदेव्या—मेरुदेवी से; भगवन्तम्—भगवान्; यज्ञ-पुरुषम्—समस्त यज्ञों के भोक्ता तथा स्वामी, भगवान् विष्णु को; अवहित-आत्मा—अत्यन्त ध्यानपूर्वक; अयजत—स्तुति और आराधना की।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—आग्नीध्र के पुत्र महाराज नाभि ने सन्तान की इच्छा की, इसलिए उन्होंने समस्त यज्ञों के भोक्ता एवं स्वामी भगवान् विष्णु की अत्यन्त मनोयोग से स्तुति एवं आराधना प्रारम्भ की। उस समय तक महाराज नाभि की पत्नी मेरुदेवी ने किसी सन्तान को जन्म नहीं दिया था, अतः वह भी अपने पति के साथ भगवान् विष्णु की आराधना करने लगी।

तस्य ह वाव श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु
द्रव्यदेशकालमन्त्रत्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमोऽपि भगवान्भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीक
आत्मानमपराजितं निजजनाभिप्रेतार्थविधित्सया गृहीतहृदयो हृदयङ्गमं
मनोनयनानन्दनावयवाभिराममाविश्रकार. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य—जब वह (नाभि); ह वाव—निश्चय ही; श्रद्धया—अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक; विशुद्ध-भावेन—शुद्ध, निष्कलुष मन से; यजतः—आराधना कर रहा था; प्रवर्ग्येषु—जबकि प्रवर्ग्य नामक कर्म; प्रचरत्सु—पालन किये जा रहे थे; द्रव्य—सामग्री; देश—स्थान; काल—समय; मन्त्र—स्तुति, मंत्र; ऋत्विक्—पुरोहित; दक्षिणा—पुरोहितों को मिलने वाली भेंटें; विधान—विधि; योग—तथा साधनों का; उपपत्त्या—करने से; दुरधिगमः—अप्राप्य; अपि—यद्यपि; भगवान्—भगवान्; भागवत-वात्सल्यतया—भक्त पर वत्सलता के कारण; सु-प्रतीकः—अत्यन्त सुन्दर रूप धारण किये; आत्मानम्—अपने आपको; अपराजितम्—दुर्जेय; निज-जन—भक्त की; अभिप्रेत-अर्थ—कामना; विधित्सया—पूर्ण करने; गृहीत-हृदयः—जिनका मन आकृष्ट हो गया हो; हृदयङ्गमम्—मोहक; मनः-नयन-आनन्दन—मन तथा नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले; अवयव—अंगों से; अभिरामम्—सुन्दर; आविश्रकार—प्रकट किया।

यज्ञ में भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने के सात दिव्य साधन हैं—(१) बहुमूल्य सामग्रियों या खाद्य पदार्थों का अर्पण (द्रव्य); (२) देश-अनुरूप कार्य करना, (३) काल-अनुरूप कार्य करना, (४) स्तुति अर्पण (मंत्र) (५) पुरोहित लगाना (ऋत्विक्), (६) पुरोहितों को दान देना (दक्षिणा) तथा (७) विधि-नियमों का पालन करना। किन्तु सदैव ही इन सामग्रियों से भगवान् को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तो भी ईश्वर अपने भक्त पर वत्सल रहते हैं। अतः जब भक्त महाराज नाभि ने शुद्ध मन से अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्ति सहित प्रवर्ग्य यज्ञ करते हुए ईश्वर की आराधना और प्रार्थना की तो अपने भक्तों पर वत्सलता के कारण परम कृपालु भगवान् राजा नाभि के समक्ष अपने दुर्जेय तथा चतुर्भुजी आकर्षक रूप में प्रकट हुए। इस प्रकार से भगवान् ने अपने भक्त की मनोकामना पूर्ण करने के लिए अपने भक्त के समक्ष अपना मनोहर रूप प्रकट किया। यह रूप भक्तों के मन तथा नेत्रों को प्रमुदित करने वाला है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१८.५५) में स्पष्ट कहा गया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

“ भक्तियोग के द्वारा ही मुझे परम पुरुष को यथारूप में जाना जा सकता है। इस प्रकार भक्तियोग द्वारा मुझे पूर्ण रूप से जानने वाला तुरन्त वैकुण्ठ जगत में प्रवेश कर सकता है। ”

भगवान् को समझने और देखने का एकमात्र उपाय है भक्ति करना। यद्यपि महाराज नाभि ने निर्दिष्ट कर्तव्यों तथा यज्ञों का पालन किया, किन्तु तो भी यही समझना चाहिए कि ईश्वर उनके यज्ञों के

कारण नहीं, अपितु उनकी भक्ति के कारण उनके समक्ष प्रकट हुए। इसी हेतु ईश्वर उनके समक्ष अपने सुन्दर रूप में प्रकट होने के लिए राजी हुए। *ब्रह्म-संहिता* (५.३०) में बताया गया है कि भगवान् अपने आदि रूप में परम सुन्दर हैं—*वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम्—* यद्यपि भगवान् श्याम रंग के हैं किन्तु वे अत्यधिक सुन्दर हैं।

अथ ह तमाविष्कृतभुजयुगलद्वयं हिरण्मयं पुरुषविशेषं कपिशकौशेयाम्बरधरमुरसि
विलसच्छ्रीवत्सललामं दरवरवनरुहवनमालाच्छूर्यमृतमणिगदादिभिरुपलक्षितं
स्फुटकिरणप्रवरमुकुटकुण्डलकटककटिसूत्रहारकेयूरनूपुराद्यङ्गभूषणविभूषितमृत्विक्सदस्यगृहपतयोऽध
ना इवोत्तमधनमुपलभ्य सबहुमानमर्हणेनावनतशीर्षाण उपतस्थुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; ह—निश्चय ही; तम्—उसको; आविष्कृत-भुज-युगल-द्वयम्—जो चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए; हिरण्मयम्—अत्यन्त चमकीला; पुरुष-विशेषम्—समस्त जीवों में सर्वश्रेष्ठ, पुरुषोत्तम; कपिश-कौशेय-अम्बर-धरम्—रेशमी पीताम्बर धारण किये; उरसि—वक्षस्थल पर; विलसत्—सुन्दर; श्रीवत्स—श्रीवत्स नामक; ललामम्—चिह्नयुक्त; दर-वर—शंख से; वन-रुह—कमल पुष्प; वन-माला—वन पुष्पों की माला; अच्छूरि—चक्र; अमृत-मणि—कौस्तुभ मणि; गदा-आदिभिः—गदा तथा अन्य चिह्नों से; उपलक्षितम्—लक्षणों से युक्त होकर; स्फुट-किरण—तेजस्वी, किरण-मण्डित; प्रवर—श्रेष्ठ; मुकुट—मुकुट, किरीट; कुण्डल—कर्णाभूषण, बालियाँ; कटक—कंकण; कटि-सूत्र—करधनी; हार—हार; केयूर—बाजूबंद; नूपुर—पाँवों में पहना जाने वाला आभूषण, पायल; आदि—इत्यादि; अङ्ग—शरीर के; भूषण—आभूषणों से; विभूषितम्—अलंकृत; ऋत्विक्—पुरोहितगण; सदस्य—पार्षद; गृह-पतयः—(तथा) राजा नाभि; अधनाः—निर्धन व्यक्ति; इव—सदृश; उत्तम-धनम्—प्रचुर धनराशि; उपलभ्य—पाकर; स-बहु-मानम्—अत्यन्त सत्कार सहित; अर्हणेन—पूजा सामग्री से; अवनत—झुका कर; शीर्षाणः—अपने शिर (मस्तकों); उपतस्थुः—स्तुति की।

भगवान् विष्णु राजा नाभि के समक्ष चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए। वे अत्यन्त तेजोमय थे और समस्त महापुरुषों में सर्वोत्तम प्रतीत होते थे। वे अधोभाग में रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए थे; उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न था, जो सदैव शोभा देता है। उनके चारों हाथों में शंख, कमल, चक्र तथा गदा थे उनके गले में वनपुष्पों की माला तथा कौस्तुभमणि थी। वे मुकुट, कुण्डल, कंकण, करधनी, मुक्ताहार, बाजूबंद, नूपुर तथा अन्य रत्नजटित आभूषणों से शोभित थे। भगवान् को अपने समक्ष देखकर राजा नाभि, उनके पुरोहित तथा पार्षद वैसा ही अनुभव कर रहे थे जिस प्रकार किसी निर्धन को सहसा अथाह धनराशि प्राप्त हुई हो जाए। उन्होंने भगवान् का स्वागत किया, आदरपूर्वक प्रणाम किया तथा स्तुति करके वस्तुएँ भेंट कीं।

तात्पर्य : यहाँ पर स्पष्ट बताया गया है कि भगवान् सामान्य मनुष्य की तरह नहीं प्रकट हुए। वे राजा नाभि तथा उनके पार्षदों के समक्ष सर्वश्रेष्ठ पुरुष (पुरुषोत्तम) के रूप में प्रकट हुए। जैसाकि वेदों में कहा गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* भगवान् भी जीवित प्राणी हैं, किन्तु वे परम पुरुष हैं।

भगवद्गीता (७.७) में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय—*हे धनंजय, कोई भी सत्य मुझसे श्रेष्ठ नहीं।” भगवान् श्रीकृष्ण से बढ़कर आकर्षक या प्रामाणिक अन्य कोई नहीं। ईश्वर तथा सामान्य प्राणी में यही अन्तर है। भगवान् विष्णु की दिव्य देह के इस विवरण द्वारा भगवान् विष्णु में तथा अन्य प्राणियों से सरलता से विभेद किया जा सकता है। फलतः महाराज नाभि ने अपने पुरोहितों तथा पार्षदों समेत भगवान् को नमस्कार किया और अनेक सामग्रियों से उनकी पूजा की। जैसाकि *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—*यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः—*“इसे प्राप्त करके मनुष्य सोचता है कि इससे बड़ा अन्य लाभ नहीं है।” जब कोई भगवान् का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है, तो उसे यही लगता है कि उसने सर्वश्रेष्ठ वस्तु प्राप्त कर ली है। *रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते—*जब उच्चतर स्वाद मिलने लगता है, तो उसकी चेतना स्थिर हो जाती है। भगवान् का दर्शन कर लेने के बाद किसी भौतिक वस्तु के प्रति आकर्षण नहीं रह जाता। तब मनुष्य भगवान् की उपासना में स्थिर हो जाता है।

ऋत्विज ऊचुः

अर्हसि मुहुरर्हत्तमार्हणमस्माकमनुपथानां नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितं कोऽर्हति
पुमान्प्रकृतिगुणव्यतिकरमतिरनीश ईश्वरस्य परस्य प्रकृतिपुरुषयोरर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी
रूपनिरूपणम्; सकलजननिकायवृजिननिरसनशिवतमप्रवरगुणगणैकदेशकथनादृते ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ऋत्विजः ऊचुः—ऋत्विजों ने कहा; अर्हसि—(स्वीकार) करें; मुहुः—पुनः पुनः; अर्हत्-तम—हे श्रेष्ठ पूज्य पुरुष; अर्हणम्—पूजा; अस्माकम्—हम सब की; अनुपथानाम्—जो आपके दास हैं; नमः—नमस्कार है; नमः—नमस्कार; इति—इस प्रकार; एतावत्—यहाँ तक; सत्—श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा; उपशिक्षितम्—सिखाये गये; कः—कौन; अर्हति—समर्थ है; पुमान्—मनुष्य; प्रकृति—भौतिक प्रकृति के; गुण—गुणों के; व्यतिकर—रूपान्तरों में; मतिः—जिसका मन (मन है); अनीशः—असमर्थ; ईश्वरस्य—भगवान् के; परस्य—परम; प्रकृति-पुरुषयोः—तीनों गुणों के अन्तर्गत; अर्वाक्तनाभिः—जो वहाँ तक नहीं पहुँचते अथवा जो इसी संसार के हैं; नाम-रूप-आकृतिभिः—नामों, रूपों तथा गुणों से; रूप—आपकी प्रकृति या स्थिति का; निरूपणम्—निश्चय करना; सकल—समस्त; जन-निकाय—मानव जाति का; वृजिन—पाप कर्म; निरसन—मिटाने वाले; शिवतम—अत्यन्त मंगलमय; प्रवर—श्रेष्ठतम; गुण-गण—दिव्य गुणों का; एक-देश—एक अंश; कथनात्—कथन से; ऋते—केवल।

ऋत्विजगण इस प्रकार ईश्वर की स्तुति करने लगे—हे परम पूज्य, हम आपके दास मात्र हैं। यद्यपि आप पूर्ण हैं, किन्तु अहैतुकी कृपावश ही सही, हम दासों की यत्किंचित सेवा स्वीकार करें। हम आपके दिव्य रूप से परिचित नहीं हैं, किन्तु जैसा वेदों तथा प्रामाणिक आचार्यों ने हमें शिक्षा दी है, उसके अनुसार हम आपको बारम्बार नमस्कार करते हैं। जीवात्माएँ प्रकृति के गुणों

के प्रति अत्यधिक आकर्षित होती हैं, अतः वे कभी भी पूर्ण नहीं हैं, किन्तु आप समस्त भौतिक अवधारणाओं से परे हैं। आपके नाम, रूप तथा गुण सभी दिव्य हैं और व्यावहारिक बुद्धि की कल्पना के परे हैं। भला आपकी कल्पना कौन कर सकता है? इस भौतिक जगत में हम केवल नाम तथा गुण देख पाते हैं। हम आपको अपना नमस्कार तथा स्तुति अर्पित करने के अतिरिक्त और कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। आपके शुभ दिव्य गुणों के कीर्तन से समस्त मानव जाति के पाप धुल जाते हैं। यही हमारा परम कर्तव्य है और इस प्रकार हम आपकी अलौकिक स्थिति को अंशमात्र ही जान सकते हैं।

तात्पर्य : भगवान् को भौतिक अनुभूति से कुछ भी सरोकार नहीं। यहाँ तक कि अद्वैतवादी शंकराचार्य भी यही कहते हैं—*नारायणः परोऽव्यक्तात्*—“भगवान्, नारायण, भौतिक अनुभूति से परे (अव्यक्त) हैं।” हम भगवान् के रूप तथा लक्षणों को मन से गढ़ नहीं सकते। हमें वैदिक शास्त्रों में दिये गये उनके रूप तथा कर्म को मात्र स्वीकार कर लेना चाहिए। *ब्रह्म-संहिता* (५.२९) में कहा गया है—

चिन्तामणि-प्रकर-सच्चसु कल्प-वृक्ष-

लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।

लक्ष्मी-सहस्र-शत-सम्भ्रम-सेव्यमानं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन आदि पुरुष गोविन्द की उपासना करता हूँ जो गायों को पालने वाले हैं। ये गाएँ सभी कामनाओं को पूर्ण करनेवाली हैं, ये करोड़ों कल्पतरुओं से घिरी दिव्य मणियों से बने घरों में रहती हैं। उनकी सेवा सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियाँ अत्यन्त आदर सहित करती हैं।” हमें उनके स्वरूप एवं लक्षणों का कुछ-कुछ अनुभव वैदिक साहित्य में प्रायः उल्लेखों एवं ब्रह्मा, नारद, शुकदेव गोस्वामी जैसे सत्पुरुषों द्वारा दिये गये प्रामाणिक कथनों से प्राप्त होता है। श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं—*अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यम् इन्द्रियैः*—“हम अपनी भौतिक इन्द्रियों से श्रीकृष्ण के नाम, रूप तथा गुण के विषय में अनुमान नहीं कर पाते।” इसीलिए ईश्वर के अन्य नाम भी हैं—*अधोक्षज* तथा *अप्राकृत*, जिनसे सूचित होता है कि वे सभी भौतिक इन्द्रियों से परे हैं। भगवान् अपने भक्तों पर

अहैतुकी कृपावश ही महाराज नाभि के समक्ष प्रकट हुए। इसी प्रकार जब हम भगवान् की भक्ति में रत रहते हैं, तो वे स्वयं दर्शन देते हैं— *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयम् एव स्फुरत्यदः*। भगवान् को समझने की केवल यही विधि है। जैसाकि *भगवद्गीता* में इनकी पुष्टि हुई है— *भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः*—“भक्ति के द्वारा ही भगवान् को जाना जा सकता है।” इसके लिए कोई अन्य उपाय नहीं है। हमें प्रामाणिक विद्वानों तथा शास्त्रों के वचनों को ही मानकर भगवान् के सम्बन्ध में चिन्तन करना चाहिए। हम ईश्वर के रूपों तथा लक्षणों की मनगढ़ंत कल्पना नहीं कर सकते।

परिजनानुरागविरचितशबलसंशब्दसलिलसितकिसलयतुलसिकादूर्वाङ्कुरैरपि सम्भृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

परिजन—आपके सेवकों द्वारा; अनुराग—अत्यन्त आह्लाद से; विरचित—की गई; शबल—गद्गद् वाणी से; संशब्द—स्तुति से; सलिल—जल; सित-किसलय—नव कोपलों से युक्त वृत्त (पल्लव); तुलसिका—तुलसीदल; दूर्वा-अङ्कुरैः—(तथा) नई उगी दूब से; अपि—भी; सम्भृतया—किया गया; सपर्यया—पूजा द्वारा; किल—निस्सन्देह; परम—हे परमेश्वर; परितुष्यसि—संतुष्ट हो जाते हो।

हे परमेश्वर, आप सभी प्रकार से पूर्ण हैं। जब आपके भक्त गद्गद् वाणी से आपकी स्तुति करते हैं तथा आह्लादवश तुलसीदल, जल, पल्लव तथा दूब के अंकुर चढ़ाते हैं, तो आप निश्चय ही परम सन्तुष्ट होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् को प्रसन्न करने के लिए न तो प्रचुर धन की आवश्यकता है, न शिक्षा या ऐश्वर्य की। यदि कोई प्रेम तथा आह्लादपूर्वक उनमें पूर्णतया मग्न रहे तो केवल कुछ पुष्प तथा जल चढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा गया है— *पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति*—“यदि कोई प्रेम तथा भक्तिवश मुझको पत्ती, फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।”

भगवान् को केवल भक्ति से प्रसन्न किया जा सकता है इसीलिए यहाँ यह कहा गया है कि ईश्वर केवल अनुराग (भक्ति) से प्रसन्न होते हैं। *हरि भक्ति विलास* में *गौतमीय तंत्र* का निम्नलिखित उद्धरण आया है—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।

विक्रीणीते स्वम् आत्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥

“श्रीकृष्ण केवल तुलसीदल तथा अंजुली भर जल चढ़ाने वाले भक्त के हाथों बिक जाते हैं, क्योंकि वे अपने भक्तों के प्रति परम वत्सल हैं।” भगवान् की अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपा रहती है, अतः निर्धन से निर्धन व्यक्ति जो भक्तिवश थोड़ा सा जल तथा एक पुष्प भी उन पर चढ़ाता है उससे वे प्रसन्न हो जाते हैं। अपने भक्तों के प्रति उनकी वत्सलता के कारण ही ऐसा होता है।

अथानयापि न भवत इज्ययोरुभारभरया समुचितमर्थमिहोपलभामहे. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अथ—अन्यथा; अनया—यह; अपि—भी; न—नहीं; भवतः—आपका; इज्यया—यज्ञ द्वारा; उरुभार-भरया—तमाम सामग्री के भार से बोझिल; समुचितम्—वांछित, आवश्यक; अर्थम्—उपयोग; इह—यहाँ; उपलभामहे—हम देखते हैं।

हमने आपकी पूजा में आपको अनेक वस्तुएँ अर्पित की हैं और आपके लिए अनेक यज्ञ किये हैं, किन्तु हम सोचते हैं कि आपको प्रसन्न करने के लिए इतने सारे आयोजनों की कोई आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी का कहना है कि यदि बिना भूख के किसी के सामने ढेर सारा भोजन रख दिया जाये तो उसका कोई महत्त्व नहीं होता। बड़े-बड़े याज्ञिक अनुष्ठानों में भगवान् को तुष्ट करने के लिए अनेक वस्तुएँ एकत्र की जाती हैं, किन्तु यदि ईश्वर के प्रति लगाव या प्रेम नहीं है, तो यह सारा आयोजन निरर्थक है। ईश्वर स्वयं में पूर्ण हैं और उनको हमसे कुछ नहीं चाहिए किन्तु यदि हम उन्हें थोड़ा जल, एक फूल तथा एक तुलसीदल भेंट कर दें तो वे इन्हें स्वीकार कर लेंगे। भगवान् को प्रसन्न करने का एकमात्र साधन भक्ति है। बड़े-बड़े यज्ञों के आयोजन की कोई आवश्यकता नहीं होती। पुरोहितों को यह सोच कर विषाद हो रहा था कि वे भक्ति के पथ पर नहीं हैं और ईश्वर उनके यज्ञ से प्रसन्न नहीं हैं।

आत्मन एवानुसवनमञ्जसाव्यतिरेकेण बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य किन्तु नाथाशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्रं भवितुमर्हति. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—अपने आप; एव—निश्चय ही; अनुसवनम्—प्रत्येक क्षण; अञ्जसा—प्रत्यक्ष; अव्यतिरेकेण—बिना व्यवधान के; बोभूयमान—वर्धमान; अशेष—असीम; पुरुष-अर्थ—जीवन-लक्ष्य; स्व-रूपस्य—आपका वास्तविक रूप; किन्तु—लेकिन; नाथ—हे ईश्वर; आशिषः—भौतिक सुख हेतु आशीर्वाद; आशासानानाम्—हम सबका जिन्हें सदैव कामना रहती है; एतत्—यह; अभिसंराधन—आपका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए; मात्रम्—केवल; भवितुम् अर्हति—हो सकता है।

आप में प्रतिक्षण प्रत्यक्षतया, स्वयमेव, निरन्तर एवं असीमतः जीवन के समस्त लक्ष्यों एवं

ऐश्वर्यों की वृद्धि हो रही है। दरअसल, आप स्वयं ही असीम सुख तथा आनन्द से युक्त हैं। हे ईश्वर, हम तो सदा ही भौतिक सुखों के फेर में रहते हैं। आपको इन समस्त याज्ञिक आयोजनों की आवश्यकता नहीं है। ये तो हमारे लिए हैं जिससे हम आपका आशीर्वाद पा सकें। ये सारे यज्ञ हमारे अपने कर्म-फल के लिए किये जाते हैं और वास्तव में आपको इनकी कोई आवश्यकता ही नहीं है।

तात्पर्य : आत्म-निर्भर (सम्पूर्ण) होने के कारण परमेश्वर को बड़े-बड़े यज्ञों की आवश्यकता नहीं है। जो अपने स्वार्थ के लिए भौतिक ऐश्वर्य की कामना करते हैं उनके लिए सकाम कर्म की आवश्यकता है। *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म-बन्धनः*—यदि हम परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए कर्म नहीं करते तो हम माया के कार्यों में लग जाते हैं। हम किसी विशाल मन्दिर का निर्माण करके हजारों डालर व्यय कर सकते हैं किन्तु ईश्वर को ऐसे मन्दिर की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर के पास अपने निवास के लिए ऐसे लाखों मन्दिर हैं, उन्हें हमारे प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें ऐश्वर्य के कार्य कदापि नहीं चाहिए। ऐसा कार्य तो हमारे आत्म-लाभ के लिए होता है। क्योंकि यदि हम अपने धन को विशाल मन्दिर-निर्माणकार्य में लगा देते हैं, तो हम अपने प्रयास के बन्धन से मुक्त रहते हैं। यह हमारे कल्याण के लिए है। साथ ही, यदि हम भगवान् के लिए कुछ अच्छा कार्य करते हैं, तो वे प्रसन्न होकर हमें आशीर्वाद देते हैं। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि ऐसे विशाल आयोजन ईश्वर के लिए नहीं, अपितु हमारे अपने लिए होते हैं। यदि हम किसी प्रकार से ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त कर सकें, तो हमारा अन्तःकरण पवित्र हो सकता है और हम भगवान् के धाम वापस जाने के भागी बन सकते हैं।

तद्यथा बालिशानां स्वयमात्मनः श्रेयः परमविदुषां परमपरमपुरुष प्रकर्षकरुणया स्वमहिमानं चापवर्गाख्यमुपकल्पयिष्यन्स्वयं नापचित एवेतरवदिहोपलक्षितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; यथा—जिस प्रकार; बालिशानाम्—मूर्खों का; स्वयम्—स्वयं; आत्मनः—अपना; श्रेयः—कल्याण; परम्—परम; अविदुषाम्—अज्ञानियों का; परम-परम-पुरुष—हे ईश्वरों के भी ईश, इशाधीश; प्रकर्ष-करुणया—प्रभूत अहैतुक करुणावश; स्व-महिमानम्—अपनी व्यक्तिगत महिमा; च—तथा; अपवर्ग-आख्यम्—अपवर्ग (मुक्ति) कहलाने वाली; उपकल्पयिष्यन्—देने की इच्छा से; स्वयम्—स्वयं; न अपचितः—समुचित रीति से पूजा न होने से; एव—यद्यपि; इतर-वत्—सामान्य पुरुष की भाँति; इह—यहाँ; उपलक्षितः—(आप) हैं और (हमारे द्वारा) देखे जा रहे हैं।

हे ईशाधश, हम धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष से पूर्णतया अनजान हैं क्योंकि हमें जीवन-लक्ष्य का ठीक से पता नहीं है। आप यहाँ हमारे समक्ष साक्षात् इस प्रकार प्रकट हुए हैं जिस प्रकार कोई व्यक्ति जानबूझ कर अपनी पूजा कराने के लिए आया हो। किन्तु ऐसा नहीं है, आप तो इसलिए प्रकट हुए हैं जिससे हम आपके दर्शन कर सकें। आप अपनी अगाध तथा अहैतुकी करुणावश हमारा उद्देश्य पूरा करने, हमारा हित करने तथा अपवर्ग का लाभ प्रदान करने हेतु प्रकट हुए हैं। हम अपनी अज्ञानता के कारण आपकी ठीक से उपासना भी नहीं कर पा रहे हैं, तो भी आप पधारे हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु स्वयं यज्ञ-स्थल पर उपस्थित हुए, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका कोई निजी स्वार्थ था। इसी प्रकार मन्दिर में अर्चा-विग्रह रहता है। मात्र अपनी अहैतुकी करुणा से भगवान् उपस्थित होते हैं जिससे हम उनका दर्शन पा सकें। हम, दिव्य दृष्टि न होने के कारण ईश्वर के सत्-चित्-आनन्द विग्रह को नहीं देख सकते। हमें पत्थर तथा लकड़ी के समान स्थूल पदार्थ दिखाई पड़ते हैं इसीलिए वे मन्दिरों में पत्थर तथा लकड़ी का रूप धारण करके हमारी सेवा स्वीकारते हैं। यह ईश्वर की अहैतुकी कृपा का प्रदर्शन है। यद्यपि उनकी ऐसी वस्तुओं के प्रति कोई रुचि नहीं है, किन्तु हमारी प्रेमाभक्ति प्राप्त करने के लिए वे ऐसा करते हैं। वास्तव में हम भगवान् की पूजा के लिए उपयुक्त सामग्रियों की भेंट चढ़ा भी नहीं सकते क्योंकि हमें कोई ज्ञान नहीं है। मात्र अहैतुकी कृपावश ही महाराज नाभि के यज्ञ-स्थल में परमेश्वर प्रकट हुए।

अथायमेव वरो ह्यर्हत्तम यर्हि बर्हिषि राजर्षेर्वरदर्षभो भवान्निजपुरुषेक्षणविषय आसीत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; अयम्—यह; एव—निश्चय ही; वरः—आशीर्वाद; हि—निस्सन्देह; अर्हत्-तम—पूज्यतम; यर्हि—क्योंकि; बर्हिषि—यज्ञ में; राज-ऋषेः—राजा नाभि का; वरद-ऋषभः—वरदायकों में श्रेष्ठ; भवान्—आप; निज-पुरुष—अपने भक्तों के; ईक्षण-विषयः—देखने योग्य वस्तु; आसीत्—हो गई है।

हे पूज्यतम, आप समस्त वरदायकों में श्रेष्ठ हैं और राजर्षि नाभि की यज्ञशाला में आपका प्राकट्य हमें आशीर्वाद देने के लिए हुआ है। चूँकि हम आपको देख पाये हैं इसलिए आपने हमें सर्वाधिक मूल्यवान वर प्रदान किया है।

तात्पर्य : निज-पुरुष-ईक्षण-विषय—भगवद्गीता (९.२९) में श्रीकृष्ण कहते हैं, समोऽहं

सर्वभूतेषु—“मैं किसी से द्वेष नहीं करता और न किसी का पक्षपात करता हूँ; जीवमात्र में मेरा समभाव है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे प्रिय मित्र हैं और मुझमें ही स्थित हैं और मैं भी उनका प्रिय हूँ, उनमें हूँ।”

भगवान् सबके लिए समान हैं। इस अर्थ में न तो उनका कोई शत्रु है, न कोई मित्र। प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों का फल भोगता है और ईश्वर सबों के हृदय में स्थित होकर सबों को देखते तथा उन्हें वांछित फल देते हैं। जिस प्रकार भक्तगण ईश्वर को सर्वभावेन संतुष्ट देखना चाहते हैं उसी प्रकार से ईश्वर अपने भक्तों के समक्ष अपने को उपस्थित करने के लिए इच्छुक रहते हैं। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.८) में कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

“भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का विनाश तथा धर्म की फिर से स्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।”

इस प्रकार श्रीकृष्ण का आविर्भाव अपने भक्तों को भवबंधन से छुटकारा दिलाने तथा संतोष देने के लिए होता है। वे केवल दुष्टों को मारने के लिए अवतार नहीं लेते क्योंकि इस कार्य को तो उनके दूत भी कर सकते हैं। महाराज नाभि के यज्ञस्थल में भगवान् विष्णु का प्रकट होना राजा तथा उनके अनुचरों को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कुछ न था, अन्यथा वहाँ उनके उपस्थित होने का कोई प्रयोजन नहीं था।

असङ्गनिशितज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां मुनीनामनवरतपरिगुणितगुणगण
परममङ्गलायनगुणगणकथनोऽसि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

असङ्ग—वैराग्य से; निशित—दृढ़ किया है; ज्ञान—ज्ञान की; अनल—अग्नि से; विधूत—हटाया गया; अशेष—असीम;
मलानाम्—जिनकी मलिन वस्तुएँ; भवत्-स्वभावानाम्—जिन्होंने आपके गुण प्राप्त कर लिए हैं; आत्म-आरामाणाम्—जो
आत्म-तुष्ट है, आत्माराम; मुनीनाम्—मुनियों का; अनवरत—लगातार, निरन्तर; परिगुणित—स्मरण करते; गुण-गण—जिसके
सद्गुण समूह; परम-मङ्गल—परम-आनन्द; आयन—उत्पन्न करता है; गुण-गण-कथनः—जिसके लक्षणों का जप; असि—तुम
हो।

हे ईश्वर, समस्त विचारवान् मुनि तथा साधु पुरुष निरन्तर आपके दिव्य गुणों का गान करते

रहते हैं। इन मुनियों ने अपनी ज्ञान-अग्नि से अपार मलराशि को पहले ही दग्ध कर दिया है और इस संसार से अपने वैराग्य को सुदृढ़ किया है। इस प्रकार वे आपके गुणों को ग्रहण कर आत्म-तुष्ट हैं। तो भी जिन्हें आपके गुणों के गान में परम-आनन्द आता है उनके लिए भी आपका दर्शन दुर्लभ है।

तात्पर्य : महाराज नाभि के यज्ञस्थल में समवेत पुरोहितों ने भगवान् विष्णु के द्वारा साक्षात् दर्शन दिये जाने की भूरि-भूरि प्रशंसा की और अपने को परम धन्य माना। ईश्वर का दर्शन उन महान् सन्तों के लिए भी, जिन्होंने भौतिक संसार से वैराग्य ले लिया है और जिनके हृदय ईश्वर की महिमा का निरन्तर जप करने के कारण विमल हैं, दुर्लभ है। ऐसे मनुष्य ईश्वर के दिव्य गुणों का जप करके संतुष्ट रहते हैं। उन्हें ईश्वर के प्राकट्य की आवश्यकता नहीं रहती। ऋषिगण यह इंगित करना चाहते हैं कि ईश्वर का साक्षात्कार महान् साधुओं के लिए भी दुर्लभ है, किन्तु वे उन पर इतने प्रसन्न हुए कि वे साक्षात् प्रकट हो गये। इसलिए समस्त याजक अत्यधिक कृतकृत्य हुए।

अथ कथञ्चित्स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब भी; कथञ्चित्—किसी प्रकार से; स्खलन—ठोकर खाने; क्षुत्—भूख; पतन—गिरने; जृम्भण—जम्हाई लेने; दुरवस्थान—प्रतिकूल स्थिति में रहने के कारण; आदिषु—इत्यादि; विवशानाम्—असमर्थ; नः—हम सबका; स्मरणाय—याद रखने; ज्वर-मरण-दशायाम्—मृत्यु के समय तेज ज्वर की दशा में; अपि—भी; सकल—समस्त; कश्मल—पाप; निरसनानि—दूर करने वाले; तव—तुम्हारे; गुण—गुण; कृत—कर्म; नामधेयानि—नाम; वचन-गोचराणि—उच्चरित हो सकने वाले; भवन्तु—हो सकें।

हे ईश्वर, सम्भव है कि हम कँपकँपाने, भूखे रहने, गिरने, जम्हाई लेने या ज्वर के कारण मृत्यु के समय शोचनीय रुग्ण अवस्था में रहने के कारण आपके नाम का स्मरण न कर पाएँ। अतः हे ईश्वर, हम आपकी स्तुति करते हैं क्योंकि आप भक्तों पर वत्सल रहते हैं। आप हमें अपने पवित्र नाम, गुण तथा कर्म को स्मरण कराने में सहायक हों जिससे हमारे पापी जीवन के सभी पाप दूर हो जाँय।

तात्पर्य : जीवन की वास्तविक सफलता है अन्ते नारायण-स्मृति अर्थात् मृत्यु के समय ईश्वर के पवित्र, नाम, गुण तथा रूप का स्मरण। भले ही हम मन्दिरों में ईश्वर की पूजा में लगे रहें, किन्तु भौतिक

परिस्थितियाँ इतनी कठिन तथा दुस्तर हैं कि मृत्यु के समय रुग्ण अवस्था या मानसिक विक्षिप्तता के कारण हम ईश्वर को स्मरण करना भूल सकते हैं। इसीलिए हमें ईश्वर से यही प्रार्थना करनी चाहिए कि हमें मृत्यु के समय अपने चरणकमल का स्मरण करने के योग्य अवश्य रखें, क्योंकि उस समय हमारी स्थिति दयनीय होगी। इस प्रसंग के लिए हमें श्रीमद्भागवत (६-२.९-१० तथा १४-१५) देखना चाहिए।

किञ्चायं राजर्षिरपत्यकामः प्रजां भवादृशीमाशासान ईश्वरमाशिषां स्वर्गापवर्गयोरपि भवन्तमुपधावति
प्रजायामर्थप्रत्ययो धनदमिवाधनः फलीकरणम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

किञ्च—इसके अतिरिक्त; अयम्—यह; राज-ऋषिः—पवित्र राजा (नाभि); अपत्य-कामः—सन्तान का इच्छुक; प्रजाम्—एक पुत्र; भवादृशीम्—आपके ही सदृश; आशासानः—आशा युक्त; ईश्वरम्—परम नियन्ता; आशिषाम्—आशीर्वादों का; स्वर्ग-अपवर्गयोः—स्वर्ग लोक तथा मुक्ति का; अपि—यद्यपि; भवन्तम्—आपको; उपधावति—उपासना करता है; प्रजायाम्—लड़के-बच्चे, सन्तान; अर्थ-प्रत्ययः—जीवन का परम लक्ष्य मानते हुए; धन-दम्—दानी को; इव—सदृश; अधनः—निर्धन पुरुष; फलीकरणम्—थोड़ी सी भूसी।

हे ईश्वर, आपके समक्ष ये महाराज नाभि, हैं जिनके जीवन का परम लक्ष्य आपके ही समान पुत्र प्राप्त करना है। हे भगवन्, उसकी स्थिति उस व्यक्ति जैसी है, जो एक अत्यन्त धनवान पुरुष के पास थोड़ा सा अन्न माँगने के लिए जाता है। पुत्रेच्छा से ही वे आपकी उपासना कर रहे हैं यद्यपि आप उन्हें कोई भी उच्चस्थ पद प्रदान कर सकने में समर्थ हैं—चाहे वह स्वर्ग हो या भगवद्धाम का मुक्ति-लाभ।

तात्पर्य : पुरोहित कुछ-कुछ झेंपकरने लगे थे कि राजा नाभि ईश्वर से पुत्र का वर प्राप्त करने के लिए इतना बड़ा यज्ञ कर रहे हैं। ईश्वर उन्हें स्वर्ग या वैकुण्ठलोक भेज सकते थे। श्री चैतन्य महाप्रभु ने हमें शिक्षा दी है कि भगवान् तक कैसे पहुँचा जाये और कैसे श्रेष्ठ वर माँगा जाये। वे कहते हैं—*न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।* वे भगवान् से कोई भौतिक वस्तु नहीं माँगना चाहते। भौतिक ऐश्वर्य का अर्थ है धन, उत्तम कुल, सुन्दर पत्नी तथा अनेक अनुचर, किन्तु बुद्धिमान-भक्त ईश्वर से ऐसी वस्तुओं की याचना नहीं करता। बस उसकी तो प्रार्थना है—*मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।* वे ईश्वर की प्रिय सेवा में निरन्तर लगे रहना चाहते हैं। वे न तो स्वर्ग चाहते हैं, न भवबन्धन से मुक्ति। यदि ऐसा होता, तो श्री चैतन्य महाप्रभु ने कदापि यह न कहा होता—*मम*

जन्मनि जन्मनि। जब तक कोई भक्त भक्त बना रहता है, उसके लिए इसका कोई महत्त्व नहीं रहता कि वह जन्म-जन्मांतर जन्म लेता रहेगा अथवा नहीं। शाश्वत स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ है भगवान् के धाम को वापस जाना। भक्त को भौतिक वस्तुओं से कोई सरोकार नहीं रहता। यद्यपि नाभि महाराज विष्णु जैसा पुत्र चाहते थे, किन्तु ईश्वर के समान पुत्रेच्छा भी इन्द्रिय-तृप्ति का एक रूप है। शुद्ध भक्त तो ईश्वर की प्रेमाभक्ति में लिप्त रहना चाहता है।

को वा इह तेऽपराजितोऽपराजितया

माययानवसितपदव्यानावृतमतिर्विषयविषयानावृतप्रकृतिरनुपासितमहच्चरणः. ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

कः वा—ऐसा कौन पुरुष है; इह—संसार में; ते—तुम्हारा (श्रीभगवान् का); अपराजितः—न पराजित हो सकने वाला; अपराजितया—अपराजित द्वारा; मायया—माया के द्वारा; अनवसित-पदव्य—जिसका पथ निर्दिष्ट न किया जा सके; अनावृत-मतिः—जिसकी बुद्धि मोहग्रस्त नहीं है; विषय-विषय—विषय तुल्य भौतिक सुख का; रय—पथ से होकर; अनावृत—खुला हुआ; प्रकृतिः—जिसका स्वभाव; अनुपासित—बिना उपासना किये; महत्-चरणः—परम भक्तों के चरणकमल।

हे ईश्वर, जब तक मनुष्य परम भक्तों के चरणकमलों की उपासना नहीं करता, तब तक उसे माया परास्त करती रहेगी और उसकी बुद्धि मोहग्रस्त बनी रहेगी। दरअसल, ऐसा कौन है जो विषय तुल्य भौतिक सुख की तरंगों में न बहा हो! आपकी माया दुर्जेय है। न तो इस माया के पथ को कोई देख सकता है, न इसकी कार्य-प्रणाली को ही कोई बता सकता है।

तात्पर्य : महाराज नाभि पुत्र-प्राप्ति के लिए महान् यज्ञ करने पर तुले थे। हो सकता है कि उनका पुत्र भगवान् के ही समान उत्तम हो, किन्तु ऐसी इच्छा चाहे छोटी हो या बड़ी, माया के प्रभाव से ही मन में आती है। भक्त कभी भी अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए किसी वस्तु की कामना नहीं करता। इसीलिए भक्ति को निष्काम (अन्याभिलाषिता-शून्य) कहा गया है। प्रत्येक प्राणी माया से प्रभावित है और सभी प्रकार की भौतिक कामनाओं में उलझा हुआ है। महाराज नाभि भी इसके अपवाद न थे। माया के प्रभाव से बचने का एकमात्र उपाय है कि बड़े-बड़े भक्तों की सेवा की जाये (महच्चरण-सेवा)। महान् भक्त के चरणकमलों की उपासना किये बिना माया के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। इसीलिए श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा—
“ऐसा कौन है, जो वैष्णव के चरणकमलों की सेवा किये बिना माया के चंगुल से बच सका हो।”
माया अपराजित है और उसका प्रभाव भी अपराजित है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (७.१४) में भी हुई

है—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यताया*—“मेरी त्रिगुणमयी दैवी शक्ति अपराजेय है।”

माया के इतने बड़े प्रभाव को भक्त ही लाँघ सकता है। यह महाराज नाभि का दोष न था कि उन्होंने पुत्र की इच्छा व्यक्त की। वे ऐसा पुत्र चाहते थे, जो भगवान् के ही सदृश सर्वश्रेष्ठ हो। ईश्वर के भक्त की संगति से भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा नहीं रह जाती। इसकी पुष्टि *चैतन्य चरितामृत* (मध्य २२.५४) में की गई है—

‘साधु संग, ‘साधु संग’ सर्व-शास्त्रे कथ ।

लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय ॥

तथा (मध्य २२.५१)—

महत्-कृपा बिना कोन कर्मे ‘भक्ति’ नय ।

कृष्ण-भक्ति दूरे रह, संसार नहे क्षय ॥

यदि कोई माया के प्रभाव से बचना चाहता है और घर को लौटने अर्थात् भगवान् के धाम जाने का इच्छुक है, तो उसे साधु (भक्त) की संगति करनी चाहिए। सभी शास्त्रों का यही मत है। भक्त के रंचमात्र सत्संग से माया के चंगुल से छूटा जा सकता है। शुद्ध भक्त की कृपा के बिना कोई किसी भी प्रकार से माया से नहीं बच सकता। निश्चित ही, ईश्वर की प्रेमाभक्ति पाने के लिए शुद्ध भक्त की संगति आवश्यक है। साधु संग के बिना माया के चंगुल से छूटना कठिन है। *श्रीमद्भागवत* (७.५.३२) में प्रह्लाद महाराज कहते हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रि

स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं

निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥

जब तक कोई सिर पर महान् पुरुष (साधु) की धूलि को धारण नहीं करता, तब तक वह ईश्वर का भक्त नहीं बन सकता (*पादरजोऽभिषेकं*)। शुद्ध भक्त निष्किञ्चन होता है—अर्थात् उसे इस संसार के भोग की कोई इच्छा नहीं होती। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे भक्त के गुणों को प्राप्त करने के लिए उसकी शरण में जाये। शुद्ध भक्त माया के चंगुल से तथा उसके प्रभाव से सदैव मुक्त रहने वाला है।

यदु ह वाव तव पुनरदभ्रकर्तारिह समाहूतस्तत्रार्थधियां मन्दानां नस्तद्यदेवहेलनं देवदेवार्हसि साम्येन
सर्वान्प्रतिवोढुमविदुषाम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—क्योंकि; उ ह वाव—निसन्देह; तव—तुम्हारा; पुनः—फिर; अदभ्र-कर्तः—हे ईश्वर, जो अनेक कर्म करता है; इह—यहाँ, इस-स्थल में; समाहूतः—आमंत्रित; तत्र—अतः; अर्थ-धियाम्—भौतिक कामनाओं को पूरा करने के लिए इच्छुक; मन्दानाम्—कम बुद्धि वाले, मूढ़; नः—हम सबका; तत्—वह; यत्—जो; देव-हेलनम्—भगवान् की अवहेलना; देव-देव—परम देव; अर्हसि—जो पसन्द आए; साम्येन—समभाव के कारण; सर्वान्—सब कुछ; प्रतिवोढुम्—सहने करते हैं; अविदुषाम्—हम अल्प ज्ञानियों का।

हे ईश्वर, आप अनेक अद्भुत कार्य कर सकने में समर्थ हैं। इस यज्ञ के करने का हमारा एकमात्र लक्ष्य पुत्र प्राप्त करना था, अतः हमारी बुद्धि अधिक प्रखर नहीं है। हमें जीवन-लक्ष्य निर्धारित करने का कोई अनुभव नहीं है। निसन्देह भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु किये गये इस तुच्छ यज्ञ में आपको आमंत्रित करके हमने आपके चरण कमलों में महान् पाप किया है। अतः हे सर्वेश, आप अपनी अहैतुकी कृपा तथा समदृष्टि के कारण हमें क्षमा करें।

तात्पर्य : ऋत्विजगण निश्चित रूप से अप्रसन्न थे क्योंकि उन्होंने एक तुच्छ कार्य के लिए परमेश्वर को वैकुण्ठ से बुलाया था। शुद्ध भक्त नहीं चाहता कि वृथा ही ईश्वर दर्शन दें। ईश्वर विविध कार्यों में संलग्न रहते हैं और शुद्ध भक्त यह कभी नहीं चाहता कि अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए ऐसे ही उनका दर्शन करे। वह तो केवल उनके अनुग्रह पर आश्रित रहता है और जब ईश्वर प्रसन्न होते हैं, तो भक्त उन्हें प्रत्यक्ष देख सकता है। वैसे परमेश्वर ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा भी अलक्षित रहते हैं। भगवान् का आवाहन करके महाराज नाभि के ऋत्विजों ने अपने को अज्ञानी सिद्ध कर दिया था, तो भी परमेश्वर अपनी अहैतुकी कृपा से प्रकट हुए। इसीलिए सबों ने भगवान् से क्षमा-याचना की।

विद्वानों ने भौतिक लाभ के लिए भगवान् की उपासना की अनुमति नहीं दी है। *भगवद्गीता* (७.१६) में कहा गया है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

“हे अर्जुन! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा करने वाले, जिज्ञासु तथा ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं।”

भक्ति की दीक्षा उसी समय प्रारम्भ होती है जब कोई विपदाग्रस्त होता है, धन चाहता है अथवा परम सत्य को जानना चाहता है। किन्तु इस प्रकार ईश्वर के पास जाने वाले लोग वास्तविक भक्त नहीं हैं। उन्हें पवित्र (सुकृतिना) मान लिया जाता है क्योंकि वे परम सत्य के बारे में जिज्ञासा करते हैं। वे ईश्वर के विविध कार्यों को न जानते हुए, भौतिक लाभ के लिए उन्हें वृथा ही तंग करते हैं। किन्तु भगवान् इतने दयालु हैं कि तंग किये जाने पर भी ऐसे याचकों की मनोकामना पूर्ण करते हैं। शुद्ध भक्त तो *अन्याभिलाषिता-शून्य* होता है, उसकी उपासना के पीछे कोई उद्देश्य नहीं रहता। वह कर्म या ज्ञान के रूप में माया के प्रभाव द्वारा प्रेरित नहीं होता। शुद्ध भक्त अपनी परवाह किये बिना ईश्वर की आज्ञा-पालन करने के लिए सन्नद्ध रहता है। ऋत्विजगण कर्म तथा भक्ति के अन्तर से पूर्णतः परिचित थे, अतः अपने को सकाम कर्माधीन मानकर उन्होंने ईश्वर से क्षमा-याचना की। उन्हें यह ज्ञात था कि अत्यन्त क्षुद्र कार्य के लिए परमेश्वर को बुलाया गया है।

श्रीशुक उवाच

इति निगदेनाभिष्टूयमानो भगवाननिमिषर्षभो वर्षधराभिवादिताभिवन्दितचरणः सदयमिदमाह ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; निगदेन—गद्य स्तुति द्वारा; अभिष्टूयमानः—आराधित होकर; भगवान्—भगवान्; अनिमिष-ऋषभः—समस्त देवताओं में प्रमुख; वर्ष-धर—भारतवर्ष के सम्राट् राजा नाभिद्वारा; अभिवादित—पूजित होकर; अभिवन्दित—झुककर; चरणः—जिनके पाँव; सदयम्—कृपापूर्वक; इदम्—यह; आह—कहा।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—भारतवर्ष के सम्राट्, राजा नाभि द्वारा पूजित ऋत्विजों ने गद्य में (सामान्यतः पद्य में) ईश्वर की स्तुति की और वे सभी उनके चरणकमलों पर झुक गये। देवताओं के अधिपति, परमेश्वर उनसे अत्यन्त प्रसन्न हुए और वे इस प्रकार बोले।

श्रीभगवानुवाच

अहो बताहमृषयो भवद्विरवितथगीर्भिर्वरमसुलभमभियाचितो यदमुष्यात्मजो मया सदृशो भूयादिति ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यादथापि ब्रह्मवादो न मृषा भवितुमर्हति ममैव हि मुखं यद्विद्वजदेवकुलम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहो—ओह; बत—सचमुच प्रसन्न हूँ; अहम्—मैं; ऋषयः—हे ऋषियो; भवद्विः—आप लोगों के द्वारा; अवितथ-गीर्भिः—जिनके वचन सत्य हैं; वरम्—वर पाने के लिए; असुलभम्—प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है; अभियाचितः—याचना किया हुआ; यत्—वह; अमुष्य—राजा नाभि का; आत्म-जः—पुत्र; मया सदृशः—मेरे समान; भूयात्—हो; इति—इस प्रकार; मम—मेरा; अहम्—मैं; एव—केवल; अभिरूपः—समान; कैवल्यात्—अद्वितीय; अथापि—

तो भी; ब्रह्म-वादः—ब्राह्मणों के वचन; न—नहीं; मृषा—झूठे; भवितुम्—होना; अर्हति—चाहिए; मम—मेरा; एव—निश्चय ही; हि—चूँकि; मुखम्—मुख; यत्—वह; द्विज-देव-कुलम्—शुद्ध ब्राह्मणों का कुल।

भगवान् बोले—हे ऋषियो, मैं आपकी स्तुतियों से परम प्रसन्न हुआ हूँ। आप सभी सत्यवादी हैं। आप लोगों ने राजा नाभि के लिए मेरे समान पुत्र की प्राप्ति के लिए स्तुति की है, किन्तु ऐसा पाना अति दुर्लभ है। चूँकि मैं अद्वितीय परम पुरुष हूँ और मेरे समान अन्य कोई नहीं है, अतः मुझ जैसा पुरुष पाना सम्भव नहीं है। तो भी आप सभी सयोग्य ब्राह्मण हैं, आपका वचन मिथ्या सिद्ध नहीं होना चाहिए। मैं सुयोग्य ब्राह्मणों को अपने मुख के समान उत्तम मानता हूँ।

तात्पर्य : अवितथ-गीर्भिः का अर्थ है “वे जिनके वचन मिथ्या नहीं हो सकते।” शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मणों (द्विज) को परमेश्वर के समान शक्तिमान होने का अवसर दिया जाता है। ब्राह्मण जो कुछ भी कहे वह न तो असत्य हो सकता है, न बदला जा सकता है। वैदिक आदेशों के अनुसार ब्राह्मण तो भगवान् का मुख है। इसीलिए समस्त संस्कारों में ब्राह्मण को भोजन दिया जाता है, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि जब ब्राह्मण भोजन करता है, तो भगवान् स्वयं भोजन करते हैं। इसी प्रकार, ब्राह्मण जो भी कहता है उसे बदला नहीं जा सकता। महाराज नाभि के यज्ञ में सम्मिलित होने वाले पुरोहित (ऋत्विज) न केवल ब्राह्मण थे, वरन् इतने योग्य थे कि वे देवों अथवा स्वयं ईश्वर के तुल्य थे। यदि ऐसा न होता, तो भला वे भगवान् विष्णु को यज्ञ-स्थल पर किस प्रकार बुला पाते? ईश्वर एक है। उसका किसी धर्म विशेष से सम्बद्ध नहीं है। कलियुग में विभिन्न सम्प्रदाय वाले अपने ईश्वर को दूसरों के ईश्वर से भिन्न मानते हैं, किन्तु यह असम्भव है। ईश्वर एक है और दृष्टिभेद की अवधारणाओं के अनुसार समझा जाता है। इस श्लोक के कैवल्यत् शब्द का अर्थ है कि ईश्वर का कोई प्रतियोगी नहीं है। ईश्वर केवल एक है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६.८) में कहा गया है— न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते— “उसके तुल्य या उससे बड़ा कोई नहीं दिखता।” ईश्वर की यही परिभाषा है।

तत आग्नीधीयेऽंशकलयावतरिष्याम्यात्मतुल्यमनुपलभमानः. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ततः—अतः; आग्नीधीये—आग्नीध्र के पुत्र नाभि की स्त्री में; अंश-कलया—अपने रूप के एक अंश द्वारा; अवतरिष्यामि—मैं स्वयं अवतार लूँगा; आत्म-तुल्यम्—अपने ही समान; अनुपलभमानः—न पाकर।

चूँकि मुझे अपने तुल्य और कोई नहीं मिल पा रहा, इसलिए मैं स्वयं ही अंश रूप में आग्नीध्र के पुत्र महाराज नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से अवतार लूँगा।

तात्पर्य : भगवान् के सर्वशक्तिमान होने का एक यह उदाहरण है। यद्यपि वे अद्वितीय हैं, किन्तु कभी वे स्वांश द्वारा अपना विस्तार करते हैं, तो कभी विभिन्नांश द्वारा। यहाँ पर विष्णु अपने स्वांश को आग्नीध्र के पुत्र महाराज नाभि की स्त्री मेरुदेवी के पुत्र के रूप में भेजने को तत्पर हो जाते हैं। ऋत्विज जानते थे कि भगवान् एक हैं, तो भी उन्होंने परमेश्वर से महाराज नाभि का पुत्र बनने के लिए स्तुति की जिससे संसार जान सके कि भगवान् एक हैं, उनके समान कोई अन्य नहीं। जब वे अवतरित होते हैं, तो वे विभिन्न शक्तियों के रूप में अपना विस्तार करते हैं।

श्रीशुक उवाच

इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; निशामयन्त्याः—सुनते हुए; मेरुदेव्याः—मेरुदेवी के समक्ष; पतिम्—उसके पति को; अभिधाय—कहकर; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गये; भगवान्—भगवान्।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—ऐसा कहकर भगवान् अदृश्य हो गये। राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी अपने पति के पास में ही बैठी थीं, फलस्वरूप परमेश्वर ने जो कुछ कहा था उसे वे सुन रही थीं।

तात्पर्य : वैदिक आदेशों के अनुसार पति को अपनी पत्नी के साथ यज्ञ करना चाहिए। सपत्नीको धर्मम् आचरेत्—धार्मिक कृत्यों को अपनी पत्नी के साथ साथ करना चाहिए। इसलिए महाराज नाभि ने इस महान् यज्ञ को अपनी पत्नी सहित सम्पन्न किया।

बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान्परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार ॥ २० ॥

शब्दार्थ

बर्हिषि—यज्ञ स्थल में; तस्मिन्—उस; एव—इस प्रकार; विष्णु-दत्त—हे महाराज परीक्षित; भगवान्—भगवान्; परम-ऋषिभिः—महर्षियों द्वारा; प्रसादितः—प्रसन्न किये जाने पर; नाभेः प्रिय-चिकीर्षया—राजा नाभि को प्रसन्न करने के लिए; तत्-अवरोधायने—अपनी पत्नी में; मेरुदेव्याम्—मेरुदेवी में; धर्मान्—धार्मिक नियम; दर्शयितु-कामः—यह दिखाने के लिए कि किस प्रकार करना चाहिए; वात-रशनानाम्—संन्यासियों का (जो वस्त्र नहीं धारण करते); श्रमणानाम्—वानप्रस्थियों का; ऋषीणाम्—ऋषियों का; ऊर्ध्व-मन्थिनाम्—ब्रह्मचारियों का; शुक्लया तनुवा—उनके आद्य सत् स्वरूप में, जो गुणों के परे है; अवततार—अवतार लिया।

हे विष्णुदत्त परीक्षित महाराज, उस यज्ञ के ऋषियों से भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए। फलस्वरूप उन्होंने स्वयं धर्माचरण करके दिखलाने (जैसा कि ब्रह्मचारी, संन्यासी, वानप्रस्थ

तथा गृहस्थ करते हैं) और महाराज नाभि की मनोकामना को पूरा करने का निश्चय किया। अतः वे अपने गुणातीत आद्य सत्त्व रूप में मेरुदेवी के पुत्र के रूप में प्रकट हुए।

तात्पर्य : भगवान् जब इस संसार में प्रकट होते हैं या अवतरित होते हैं, तो वे तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो गुण) से युक्त शरीर नहीं स्वीकार करते। मायावादी दार्शनिकों का कहना है कि निर्गुण ब्रह्म सत्त्व गुणमय देह स्वीकार करके इस संसार में प्रकट होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि शुक्ल शब्द का भावार्थ शुद्ध सत्त्व वाला है। भगवान् विष्णु अपने शुद्ध-सत्त्व रूप में अवतरित होते हैं। शुद्ध सत्त्व से उस सत्त्वगुण का बोध होता है, जो कभी मलिन (दूषित) नहीं होता। इस भौतिक संसार में सत्त्वगुण भी रजोगुण तथा तमोगुण से दूषित हो जाता है। सत्त्वगुण के इन गुणों से कभी न दूषित होने पर ही वह शुद्धसत्त्व कहलाता है। *सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव-शब्दितम्* (भागवत ४.३.२३)। यही वसुदेव पद है, जिससे भगवान् वासुदेव का अनुभव किया जा सकता है। *भगवद्गीता* (४.७) में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

“हे भारत! जब कभी और जहाँ-कहीं धर्म की हानि तथा अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ।”

सामान्य जीवात्माओं की तरह भगवान् अवतार लेने के लिए प्रकृति के गुणों द्वारा बाध्य नहीं होते; वे *धर्मान् दर्शयितु-काम*—अर्थात् मनुष्यों को कार्य करके दिखाने के लिए प्रकट होते हैं। धर्म शब्द का व्यवहार मनुष्यों के प्रसंग में किया जाता है। इसका व्यवहार मनुष्यों से निकृष्ट जीवों यथा पशुओं के लिए नहीं किया जाता है। दुर्भाग्यवश मनुष्य कभी-कभी ईश्वर से निर्देशित हुए बिना मनमाने धर्म को गढ़ लेते हैं। वास्तव में धर्म मनुष्य द्वारा नहीं बनाया जा सकता। *धर्म तु साक्षाद् भगवत्-प्रणीतम्* (भागवत ६.३.१९)—धर्म तो भगवान् की देन है, जिस प्रकार विधि (कानून) राज्य की देन होता है। मानव-निर्मित धर्म निरर्थक है। *श्रीमद्भागवत* में मानव निर्मित धर्म को *कैतव-धर्म* (धोखाधड़ी) कहा गया है। मानव समाज को धार्मिक नियमों का आचरण सिखाने के लिए भगवान् अवतरित होते हैं। ये धार्मिक नियम भक्तिमार्ग हैं। भगवान् स्वयं *भगवद्गीता* में कहते हैं—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं*

ब्रज / महाराज नाभि के पुत्र ऋषभदेव धर्म-नियमों का उपदेश देने के लिए इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए।
इसकी व्याख्या पाँचवें अध्याय में की जाएगी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत “महाराज नाभि को पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से
ऋषभदेव का जन्म” नामक तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।